शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६५ ☆ वर्ष २० वाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : १०

आत्महित के लिये
संतों की शिक्षा

★

जगत में दूसरे जीव धर्म प्राप्त करें या न करें, उससे अपने को क्या ? अपने को तो अपने आत्मा में देखना है। दूसरे जीव मुक्ति प्राप्त करें, उससे कहीं इस जीव का हित नहीं हो जाता, और दूसरे जीव संसार में भटकते फिरें तो उससे कहीं इस जीव का हित रुकता नहीं है। स्वयं जीव अपने आत्मा को समझे, तब अपना हित होता है, इसप्रकार अपने आत्मा के लिये यह बात है। सत्य तत्त्व तो तीनों काल दुर्लभ है और उसे समझनेवाले जीव भी विरले ही होते हैं; स्वयं समझकर अपने आत्मा का हित साध लेना चाहिये।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२३८]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

देशव्रतोद्योतनम् (दूसरी आवृत्ति सचित्र)

श्री पद्मनदी पंचविंशतिका के देशव्रतोद्यतन नामक अधिकार पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, हिन्दी अनु० श्री बंशीधरजी शास्त्र एम०ए०, प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, ५५ नलिनी सेठ रोड, कलकत्ता, पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ०.५०, पोस्टेज २५ पैसे, श्रावक को तत्त्वज्ञान सहित षट्कर्मों को प्रतिदिन करने के विषय में, आप इस पुस्तिका को अवश्य पढ़ें इसमें उत्तम भक्तिमय प्रसंग के पाँच चित्र हैं। जो देखते ही बनता है।

(१) जिन प्रतिमा अंकन्यास विधि, (२) दक्षिण तीर्थ श्री बाहुबली चरणाभिषेक, (३) पोन्नूर क्षेत्र में कुन्दकुन्दाचार्य के चरणों की पूजा, आदि।

★

श्री समयसार कलश टीका

(पंडित श्री राजमल्लजी कृत)

हस्तलिखित प्रतियों से बराबर मिलान करके आधुनिक राष्ट्रभाषा में, सुंदर ढंग से, बड़े टाइप में उत्तम प्रकाशन:—

आत्महित का जिसको प्रयोजन हो उनके लिये गूढ़ तत्त्वज्ञान के मर्म को अत्यंत स्पष्टतया खोलकर स्वानुभूतिमय उपाय को बतानेवाला यह ग्रंथ अनुपम ज्ञान निधि है। पंडित श्री राजमलजी (विक्रम संवत् १६१५) पूर्वाचार्यों के कथनानुसार आध्यात्मिक पवित्र विद्या के चमत्कारमय यह टीका बनाई है। लागत मूल्य ५) होने पर घटाया हुआ मूल्य २) पोस्टेज १.४५

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६५ ☆ वर्ष २० वाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : १०

भेदज्ञानी धर्मात्मा का अंतर्वेदन

[वैशाख शुक्ला १ के दिन लाठी शहर के जिनमंदिर के नूतन शिखर पर कलश तथा ध्वजारोहण हुआ और स्वाध्यायमंदिर में समयसार की स्थापना हुई, तत्पश्चात् पूज्य स्वामीजी का समयसार पर मंगल-प्रवचन हुआ था।]

यह समयसार शास्त्र है, कुन्दकुन्दाचार्यदेव महान अध्यात्म संत आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद में झूलते हुए दिगंबर मुनि थे, उन्होंने इस शास्त्र की रचना की है। इसमें चैतन्य की अलौकिक बात है। स्व-पर की कथा कहने की शक्ति शब्दों में है। शब्दों में जानने की शक्ति नहीं है किंतु स्व-पर का कथन करने की शक्ति है। और आत्मा में स्व-पर को जानने की शक्ति है, किंतु स्व-पर का कथन करने की शक्ति आत्मा में नहीं है; क्योंकि आत्मा में शब्द नहीं हैं। शब्दों में आत्मा नहीं है और आत्मा में शब्द नहीं है किंतु शब्द का और आत्मा का वाचक-वाच्य संबंध है। शब्द स्व-पर का कथन करते हैं किंतु आत्मा जानता है अपनी शक्ति से।

अब, यहाँ ज्ञानी कैसा होता है और अज्ञानी कैसा होता है ?—वह बतलाते हैं। ज्ञानी स्व-पर के भेदज्ञानपूर्वक अपने चैतन्य के ज्ञान-आनंदरूप भाव का वेदन करता है, राग में तन्मय नहीं होता, शरीरादि की क्रिया को भिन्न जानता है और जिसे स्व-पर की भिन्नता का भान नहीं है, चैतन्य के

आनंद का वेदन नहीं है, वह अज्ञानी विकल्प को ही अपना स्वरूप मानता हुआ उसके कर्तारूप से वर्तता है; परंतु वह बाह्य में—शरीरादि की क्रिया में तो कुछ कर नहीं सकता।

ज्ञान क्या और राग क्या—उन्हें लक्षणों द्वारा भिन्न-भिन्न जानना चाहिये। धर्मात्मा का वेदन कैसा होता है और अधर्मी का कैसा होता है? आत्मा में धर्म हो—ज्ञान हो तो कुछ अंतर्वेदन बदलना चाहिये न? अनादि से रागादि आकुलता वेदन कर रहा है, और यदि ऐसा ही वेदन बना रहे तो उसने नया क्या किया? राग से पार चैतन्य की शांति का वेदन यदि प्रगट न हुआ तो उसने कुछ नया नहीं किया, वह तो राग के ही वेदन में लगा है। अंतर में चैतन्य के आनंद का साक्षात् वेदन हो और रागादि से स्पष्ट भिन्नता भासित हो, वह धर्म है; उसमें चैतन्य में से आनंद की धाराएँ फूटती हैं; परन्तु वह किसप्रकार?—कि अंतर में दृष्टि डालने से वह आनंद प्रगट होता है परंतु अंतर्दृष्टि के आलस्य में स्वयं अपने को नहीं देखता। इंग्लिश में भी कहा है कि—'Know The Self' अर्थात् तू अपने को जान... स्व-संवेदन से तू अपने आत्मा को अनुभव में ले। अपना स्वरूप अपने अंतर में है किंतु अंतर्दृष्टि से स्वयं अपने को नहीं देखता। अंतर में दृष्टि करे तो आत्मा में भरा हुआ अमृत का सरोवर लहरा उठे। भाई, राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि तेरे आनंद को छलका दे। जिसप्रकार समुद्र जब अपने मध्य-बिंदु से स्वयं उछलता है, तब सूर्य का प्रखर ताप भी उसे रोक नहीं सकता; उसीप्रकार चिदानंद भगवान आनंद से परिपूर्ण समुद्र जहाँ स्वयं स्वभावोन्मुख होकर जागृत हुआ, वहाँ उसकी पर्याय में आनंद का ज्वार आया, उसे जगत की कोई बाधा रोक नहीं सकती; उसीप्रकार चिदानंद भगवान आनंद से परिपूर्ण समुद्र, जहाँ स्वयं स्वभावोन्मुख होकर जागृत हुआ वहाँ उसकी पर्याय में आनंद का ज्वार आया, उसे जगत की कोई प्रतिकूलता रोक नहीं सकती। और जब समुद्र में भाटा हो अर्थात् पानी उतर रहा हो, तब बाहर से चाहे जितनी नदियों का पानी या मूसलधार वर्षा भी उसमें ज्वार नहीं ला सकती। उसीप्रकार स्वोन्मुखता द्वारा यदि चैतन्यसमुद्र आत्मा स्वयं पर्याय में उल्लसित न हो तो मूसलधार वाणी की वर्षा या पाँच इन्द्रियों रूपी नदी का अवलंबन भी उसकी पर्याय में आनंद का ज्वार नहीं ला सकते। 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसे स्वसंवेदन के बिना अन्य किसी उपाय से आत्मा का आनंद नहीं आता और धर्म नहीं होता। जहाँ आत्मा को भेदज्ञान हुआ और राग से भिन्न परिणमित हुआ, वहाँ उसको चैतन्य के स्वाद का निरंतर आस्वादन वर्तता है। लाख बातों की बात है कि चिदानंद-स्वभाव का निश्चय करके अंतर में उसका अनुभवन करो। 'छहढाला' में श्री पंडित दौलतरामजी कहते हैं कि—

'लाख बात की बात यहै निश्चय उर लावो,
तोड़ि सकल जग-दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।' (४-८)

अरे, ऐसा मनुष्य अवतार! उसका एक-एक क्षण लाखों-करोड़ों रुपये से भी मूल्यवान है। किंतु जगत के लोग आत्मा को भूलकर अकेले शृंगाररस में लीन होकर मानव जन्म को व्यर्थ गँवा रहे हैं और अनेक जीव शुभराग को धर्म मानकर वहाँ रुक रहे हैं, किंतु पुण्य-पाप से विलक्षण जो परमशांत चैतन्य रस, उसके स्वाद को अज्ञानी नहीं जानते। ज्ञानी तो निरंतर अपने आत्मा का राग से विलक्षण अत्यंत मधुर चैतन्यरसरूप ही आस्वादन करते हैं। ऐसा मनुष्यभव पाकर आत्मा के अनुभवरस का स्वाद कैसे आये, वह करने योग्य है। जिसप्रकार हाथ में मेंहदी लगाने से उसका रंग चढ़ जाता है, उसीप्रकार इस चैतन्य की कथा सुनने से अंतर में उसकी रुचि का रंग चढ़ जाये तो अपूर्व कल्याण हो। अहा, चैतन्य की रुचि का स्वाद ही कोई अचिंत्य है! इन्द्रियों से परे और राग से विलक्षण चैतन्य स्वाद अज्ञानी ने कभी नहीं लिया। ज्ञानी तो सदा अपने आत्मा को ऐसे ही स्वादरूप से अनुभव में लेता है। ज्ञानी जहाँ आत्मा को राग के साथ भी एकमेक नहीं मानता, वहाँ शरीरादि स्थूल जड़ पदार्थों के साथ की एकता की तो बात ही कहाँ रही!! अरे, ज्ञानी बाह्य संयोगों में स्थित दिखाई दें किंतु अंतर में उनसे न्यारे हैं, वह अज्ञानी को दिखाई नहीं देता। ज्ञानी को स्व-पर की भिन्नता के भानपूर्वक जो भी ज्ञान है, वह सब सम्यग्ज्ञान है; और अज्ञानी को स्व-पर की एकता की मिथ्याबुद्धिपूर्वक जो भी ज्ञातृत्व है, वह सब कुज्ञान है। भेदज्ञान करके जहाँ ज्ञान अंतर के स्वसंवेदन में ढला, वहाँ उस ज्ञान में शास्त्र का अवलंबन छूट गया है। अहा, भिन्न ज्ञानमूर्ति आत्मा को विकल्प की वृत्ति का आलंबन नहीं है। राग और विकल्प की वृत्ति का उत्थान हो, तथापि भेदज्ञान के बल से धर्मात्मा का अंतर्वेदन तो भिन्न ही होता है। वह महंत संत अनादि अनंत चैतन्य का रसास्वादन करता हुआ भव के अंत की साधना करता है और अज्ञानी शास्त्रज्ञान के समय या व्रत-महाव्रत के विकल्प के समय अंतर में राग के साथ एकता का वेदन करता हुआ संसार का ही सेवन कर रहा है। ज्ञानी के अंतर्वेदन का खेल ही कोई अद्‌भुत-अचिंत्य है, जो अज्ञानी को लक्ष्य में नहीं आ सकता। निरालंबी चिदानंद प्रभु की प्रतीति होने पर रागरहित निर्विकल्प अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद वेदन में आया.... उसे तो विरले ही जानते हैं। यों तो सारा जगत राग के वेदन में सुख मानकर राग की रुचि में फँस रहा है। राग के स्वाद में अटका हुआ जगत चैतन्य की शांति को लुटा रहा है। अरे, चैतन्यशांति के स्वाद के समक्ष तो संत शुभवृत्ति को भी विष कहते हैं; उसे अज्ञानी

अमृत समान मानकर उसमें एकाकाररूप से वर्तता हुआ मिथ्यात्वरूपी विषकुंभ का सेवन करता है। चैतन्यामृत के प्याले अगम हैं, वे राग से पार हैं। अरे, एकबार तो अतीन्द्रियज्ञानमय चैतन्य के अमृत स्वाद को लक्ष में ले!! उसे लक्ष में लेते ही तेरे राग का रस उड़ जायेगा।

ज्ञानी को राग में अंशमात्र भी आत्मबुद्धि नहीं होती, इसलिये वह अपने में किंचित् राग नहीं करता, उसे स्वभाव से बाहर ही जानता है—ऐसी ज्ञानी की अंतर्वेदन की दशा है।—ऐसे अंतर्वेदन के बिना ज्ञानीपना हो सकता नहीं और उसको पहचाने बिना-जाने बिना ज्ञानी को जाना नहीं कहा जा सकता। 'मैं तो ज्ञान और आनंद ही हूँ, वही मेरा कार्य है'—ऐसा जो अंतर्वेदनपूर्वक जानता है, वही ज्ञानी है। इसके अतिरिक्त भले ही शास्त्र पढ़े या शुभराग की क्रियाएँ करे किंतु राग के वेदन से भिन्न, स्वसन्मुख हुए बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता, शुभराग से ज्ञान-चक्षु नहीं खुलते। अरे, इस शरीर की एक आँख कानी हो तो अच्छा नहीं लगता; शर्म के मारे उसे ढँकता है; तो इस चैतन्य के ज्ञानचक्षु फूट गये हैं, उससे तुझे शर्म नहीं लगती? ज्ञानचक्षु खुलने का कोई उपाय है? भाई! आत्मा का प्रेम प्रगट कर और अंतर्दृष्टि से अपने ज्ञाननेत्रों को खोलकर आत्मा का अवलोकन कर।

धर्मात्मा कहता है कि—मेरा प्रियतम अर्थात् उत्कृष्ट प्रिय में प्रिय ऐसा जो मेरा चैतन्यनाथ... उसके साथ मैंने प्रीति का कंगन बाँध लिया है... अब राग की रुचि का कंगन मैं नहीं बाँधूँगा। अहा, जहाँ चैतन्य का उत्कृष्ट प्रेम प्रगट करके, उसके आनंद के आस्वादनसहित उसी को अपना प्रियतम बनाया, वहाँ अब सज्जन संत-धर्मात्मा को जगत की कोई वस्तु प्रिय नहीं लगती... चैतन्य की प्रियता के समक्ष सारे जगत की प्रीति उसे उड़ गई है... चैतन्य के साथ जो प्रीति बँधी, उसे अब जगत में कोई तोड़ नहीं सकता; वह तो अब अप्रतिहतरूप से केवलज्ञान तथा परमात्मपद लेकर ही रहेगी। चैतन्य की प्रीति में जिसके अप्रतिहत ज्ञानधारा प्रवाहित हुई उसके—दूज में से पूर्णमासी की भाँति—पूर्ण ज्ञानकला का विकास होगा ही।

—ऐसे अप्रतिहत ज्ञानधारावंत साधक संतों को नमस्कार हो।

आत्मप्राप्ति की प्रेरणा

(समयसार कलश ३४ के प्रवचन से)

हे भाई, तू छह महीने तक आत्मा की लगन लगाकर उसका अभ्यास कर तो अवश्य तुझे अंतर में आत्मा का अनुभव होगा। जगत का कोलाहल छोड़कर स्वरूप का अभ्यास करना ही स्वरूप की प्राप्ति का उपाय है। रागादि से भिन्नरूप चैतन्यस्वरूप के निरंतर अभ्यास से छह महीने में अवश्य उसकी प्राप्ति होती है।

देखो, राग की मंदता के अभ्यास से या शुभ करते-करते आत्मा की प्राप्ति हाती है—ऐसा संतों ने नहीं कहा है। राग में तो आकुलता का कोलाहल है, उससे तो विरक्त होने को कहा है। परभाव से विरक्त तथा चैतन्यस्वभाव में अनुरक्त होकर एकाग्रता का अभ्यास करने से अंतर में अपने को अपना स्वरूप अनुभव में आता है। अहा, जिसे अकेली आत्मा की लगन लगी हो और अन्य किसी की लगन बीच में न आने दे, उसे सम्यग्दर्शन तथा आनन्द प्रगट हुए बिना नहीं रहता।—ऐसे स्वानुभव के अभ्यास द्वारा अनंत जीवों ने अनादि मिथ्यादृष्टि में से सम्यग्दर्शन प्रगट करके अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है; तो फिर जो उसी के अभ्यास में लग जाये उसे तो सम्यग्दर्शन होना सुगम है।

कोई कहे कि सम्यग्दर्शन तो अंतर्मुहूर्त में हो जाता है, इसलिये वह तो चाहे जब कर लेंगे, इस समय तो अन्य कार्य कर लेना चाहिये! तो आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे उल्टे! तुझे आत्मा की लगन ही नहीं है; यदि तुझे आत्मा की लगन और प्रेम हो तो वर्तमान में ही उसके लिये उद्यम करे... 'अभी दूसरा सब कर लें, फिर आत्मा का करेंगे'—इसका यह अर्थ हुआ कि तुझे आत्मा उतना प्रिय नहीं है, जितने अन्य कार्य प्रिय हैं। परभाव तुझे अच्छे लगते हैं, इसलिये अभी उनसे तू थका नहीं है। जिसे पर भाव की थकान लगे कि अरे, इन रागादि परभावों में कहीं मेरी शांति नहीं है, मेरी शांति मेरे चैतन्य में ही है—इसप्रकार अंतर से जिज्ञासु होकर, जिसे रागादि से भिन्न चैतन्य के अनुभव का उत्साह जागृत हुआ, उसका उल्लास वर्तमान में ही उस ओर ढलता है, वर्तमान में ही उसके वीर्य के वेग की दिशा बदल जाती है, अर्थात् वीर्य का उल्लास परभाव से विमुख होकर स्वभावोन्मुख होता है।

जो जीव, देहादि को ही आत्मा मानता था, जो परभावों को ही आत्मा मानता था, उसकी कुयुक्ति का खंडन करके आचार्यदेव ने आगम, युक्ति और स्वानुभव से समझाया कि हे भाई,

भेदज्ञान द्वारा रागादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप जीव अंतर में स्वयं अनुभव में आता है, इसलिये तू ऐसे अनुभव का उद्यम कर। भाई! ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, ऐसा मनुष्य भव और संत समागम मिला, तो अब जगत का समस्त कोलाहल छोड़कर अपने अंतर में ऐसे आत्मा के स्वानुभव का उद्यम कर... कटिबद्ध होकर छह महीना तो उसके पीछे ऐसा लग कि अवश्य स्वानुभव हो।

अहो, तेरा मार्ग अंतर में... तेरे साध्य और साधन सबका तेरे अंतर में ही समावेश होता है, अन्यत्र कहीं तुझे नहीं देखना है। तेरा स्वभाव निरालंबी है और उसका मार्ग भी निरालंबी है; तेरे अनुभव में शुभराग का भी अवलंबन नहीं है।

अरे, इस संसार की स्थिति और इस संसार का कोलाहल तेरे स्वरूप से बाह्य हैं... तू अपने स्वरूप के अनुभव में लग जाये तो उसमें कहीं संसार का कोलाहल है ही नहीं। संत ऐसा स्वानुभव करके कहते हैं कि हे भाई! अब तो तू इस जगत के दुःखमय कोलाहल से विरक्त हो... अनेक प्रकार की विपरीत मान्यता के कोलाहल को छोड़ और सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए चैतयस्वरूप में अपने उपयोग को लगा... ऐसे प्रयत्न से छह महीने में तो अवश्य तुझे सम्यग्दर्शन होगा।

अरे, तेरा चैतन्य खेत ऐसा है कि जिसमें ज्ञान-आनंद की ही फसल आती है, विकार की फसल उसमें नहीं उगती। जैसा सिद्ध का आनंद है; वैसा ही आनंद तेरे अंतर में भरा है... आत्मा तो आनंद का ही निवासधाम है, उसको तू देख बस... इतनी ही देर है। वही तेरा भेष है, आकुलता तेरा भेष नहीं; तेरा सच्चा भेष तो वह है कि जिसमें तुझे अपने स्वभाव के रहस्य की अनुभूति हो... रहस्यानुभूति अर्थात् गुप्त स्वरूप का प्रगट अनुभव हो और तुझे अपने आनंद का स्वाद आये। परभाव में तेरे आनंद का स्वाद नहीं है, उसमें तो दुःख है। स्वभाव को भूलकर तू परभाव की भुलभुलैयों में भटक गया है; अब तुझे बाहर निकलना हो तो किसी जानकार संत से मार्ग पूछकर उस मार्ग पर चल। जिसप्रकार बड़ौदा के बड़े बाग में भुलभुलैयां हैं, उनमें एकबार भूल गये, बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं मिल रहा था; तब एक जानकार आदमी से पूछकर बाहर निकल गये... उसीप्रकार हे भाई! यदि तुझे इस भवचक्र की भुलभुलैयों से बाहर निकलने की उत्कंठा जागृत हुई हो और उससे बाहर निकलकर स्वभाव का अनुभव करने की लगन लगी हो तो संतों से स्वानुभव का मार्ग जानकर छह महीने तक अभ्यास कर... संत मार्ग की पुकार करके कहते हैं कि—सुन! यदि तू धर्म के नाम पर भी राग में धर्म मानता हो तो उस मार्ग से कभी तेरा भवचक्र से छुटकारा नहीं होगा; भवचक्र से छूटने का एक ही मार्ग है कि अंतर्मुख होकर राग से भिन्न अपने चैतन्य को लक्ष में लेकर उसके अनुभव के उद्यम में लग जा!

परमात्मपद की ओर दौड़ती तथा आस्रवभावों को तोड़ती हुई

साधक धर्मात्मा की परिणति

[मंगसिर शुक्ला ६ सोनगढ़]

आत्मा शांत, स्वच्छ चैतन्यरस से भरपूर सरोवर है; स्वयं चैतन्य हंस है; उसमें चैतन्य और विकार को पृथक् करने की शक्ति है। चैतन्य और विकार को पृथक् करके चैतन्य के आनंद का चारा चरे, ऐसा हंस स्वयं है और सरोवर भी स्वयं है। स्वयं अपने में ही केलि करता है। प्रथम तो ऐसे आत्मस्वरूप की दृष्टि होना चाहिये। **ऐसी सत्दृष्टि के बिना सदाचरण नहीं होता।** दया-दानादि के राग में लाभ मानने से जो आचरण होता है, वह सदाचरण नहीं है किंतु असत् आचरण है। राग कहीं चैतन्यहंस का चारा नहीं है; चैतन्यहंस का चारा तो निर्मल ज्ञान-आनंद रस है।

चैतन्य रस से छलकते हुए शांत सरोवर में रागादि की वृत्तियाँ तो सेवार (काई) समान हैं-मलिन हैं। वह मलिनता स्वभाव की वस्तु नहीं है। स्वभाव की वस्तु तो ज्ञान-आनंद है। ऐसी दृष्टि प्रथम हो, तब जीव को धर्मात्मा कहा जाता है और ऐसे धर्मात्मा जीव के आस्रव रुकता है।

यह चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञान-आनंद-सुख-स्वच्छता-प्रभुता आदि से भरपूर भगवान है; वह पुण्य-पाप के आस्रवों से रहित है। जिसप्रकार आत्मा का स्वभाव आस्रव से शून्य है, उसीप्रकार उस स्वभाव में जिसकी दृष्टि पहुँची है, ऐसे ज्ञानी को भी आस्रव नहीं है। जिसप्रकार जड़ पदार्थ आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं, उसीप्रकार पुण्य-पाप भाव भी धर्मात्मा की निर्विकल्प अनुभूति से अत्यंत भिन्न हैं, उनमें धर्मात्मा को किंचित् एकता नहीं है।—**ऐसी निर्मल ज्ञान-आनंद से भरपूर परिणति, वह धर्मात्मा का घर है, वही धर्मात्मा का निवासधाम है; रागादि परभाव, वह धर्मात्मा का निवासधाम नहीं है।**

भगवान अरिहंतों को सर्वज्ञता और पूर्णानंद कहाँ से प्रगट हुए? अंतरंग चैतन्य सामर्थ्य में थे, वही प्रगट हुए हैं; प्रत्येक आत्मा में ऐसी सामर्थ्य विद्यमान है। उस सामर्थ्य की प्रतीति करके, उसके सन्मुख परिणमित होने का नाम ही सदाचरण है। धर्मात्मा ने अंतर्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति द्वारा राग के साथ की एकता को तोड़कर तथा स्वभाव के साथ एकता जोड़कर आस्रवों को अपने से पृथक् किया है। सम्यक् अनुभव के बिना चारित्रदशा क्या है, उसकी सूझ नहीं पड़ती;

और जहाँ सम्यक् अनुभव हुआ—निर्विकल्प आनंद का वेदन हुआ, वहाँ धर्मात्मा, आस्रव से भिन्न हो गये, उनके आस्रव का अभाव ही कह दिया है। धर्मात्मा को अभी केवलज्ञान का विकास नहीं हुआ है, किंतु केवलज्ञान की खान उन्होंने अपने में देख ली है; अब उसमें एकाग्रता द्वारा उस खान को खोदकर वे केवलज्ञान प्रगट करेंगे। चैतन्यनिधान की खान देख ली है; इसलिये राग में कहीं किंचित् आत्मबुद्धि नहीं रही है, इसलिये वे रागरहित ही हैं, उनके आस्रव नहीं है।

धर्मात्मा को रागरहित और आस्रवरहित कहा, तथापि पर्याय में अभी ज्ञानादि का अल्प परिणमन है, उसका साधक को पता है। दृष्टि के विषय में तो पूर्ण स्वभाव आ गया है, किंतु ज्ञान अभी सततरूप से स्वज्ञेय में नहीं रहता। ज्ञान का उपयोग अमुक समय तो निर्विकल्प रहता है किंतु विशेषरूप से उसी में स्थिर नहीं रह सकता; अंतर्मुहूर्त में वह विपरिणाम को प्राप्त होता है; ज्ञान का ऐसा विपरिणमन अंतर में राग का सद्भाव सूचित करता है और वह राग ही आस्रव का कारण है। परंतु ज्ञानी का ज्ञान तो उस राग से भिन्न है, इसलिये ज्ञानी बंधक नहीं हैं, राग ही बंधक है। राग भाग और ज्ञान भाग धर्मात्मा के पृथक् हो गये हैं। जो ज्ञानभाग है, वह कहीं बंध का कारण नहीं है; इसलिये ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी को तो बंध का अभाव ही कहा है। बंध का कारण तो राग है, और राग का स्वामी ज्ञानी नहीं है, तो ज्ञानी को बंधन कैसे कहा जा सकता है?

भाई, चैतन्यवस्तु अंतर्मुख है और उसे साधने का साधन भी अंतर में ही है। अंतर्मुख वस्तु का साधन बाह्य में कैसे होगा? अंतर्मुख होकर चैतन्य का स्पर्श-अनुभव किया जा सकता है, उसमें किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती। यही सबसे सरल मार्ग है; दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं। जब तक अपने आत्मा में शुभराग की अधिकता मानी जाती है या ज्ञान के विकास की भी अधिकता मानी जाती है, तब तक उसे अपने में ज्ञानस्वभाव की अधिकता भासित नहीं होगी; उसीप्रकार अपनी भाँति दूसरों में भी शुभराग-मंदकषाय देखकर, और ज्ञान का कुछ अधिक विकास और बाह्य त्याग देखकर जिसे अपनी अधिकता भासित होती है और धर्मात्मा की अधिकता भासित नहीं होती, उस जीव को चिदानंदस्वभाव की अधिकता किसी प्रकार भासित नहीं होती, वह राग की ही अधिकता में अटक रहा है। चैतन्य वस्तु, राग की मंदता से भी पार है; उस चैतन्यवस्तु की ओर उपयोग ढले बिना अन्य चाहे जितना ज्ञातृत्व हो, उसका कोई मूल्य नहीं है। भले ही अन्य ज्ञातृत्व का विकास अल्प हो, किंतु जहाँ ज्ञान ने अंतर्मुख होकर संपूर्ण चैतन्य भंडार को देखा, वहाँ वह ज्ञान राग से पृथक् हो गया। पश्चात् जो राग रहा, वह ज्ञान से पृथक्रूप ही

रहा है और उस राग का बंधन अति अल्प है।

साधक का उपयोग निचलीदशा में स्वज्ञेय में दीर्घकाल स्थिर नहीं रहता। यदि अंतर्मुहूर्त तक स्वज्ञेय में ही उपयोग रहे, तब तो केवलज्ञान हो जाये। प्रथम तो उपयोग को अंतर्मुख करके, निर्विकल्प उपयोग से स्वज्ञेय को पकड़ा है, स्वज्ञेय को पकड़कर राग से भिन्नता कर ली है, किंतु अभी परिणमन में से राग का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है; इसलिये उपयोग स्वज्ञेय से हटकर परज्ञेय में जाता है। धर्मात्मा को राग में एकत्वबुद्धि न होने पर भी जितना राग-परिणमन है, उतना बंध का कारण है। अरे प्रभु! तेरा चैतन्यतत्त्व ऐसा महिमावान है कि उसमें बंध का प्रवेश नहीं है; किंतु चैतन्यतत्त्व से किंचित् दूर हटा और राग की ओर उपयोग गया तो वह बंध का कारण होता है। उपयोग तो अबंधस्वभावी है और राग तो बंध का ही कारण है; उस उपयोग में और राग में एकता कैसे होगी ?—नहीं हो सकती। ज्ञानी के परिणमन में दोनों पृथक् हो गये हैं।

जो सचमुच ज्ञानी है, वह जीव अभिप्राय से राग का कर्ता नहीं होता। देखो, शास्त्रों की पढ़ाई कर ली या स्वाध्याय करने लगा तो उसे ज्ञानी कहना चाहिये, ऐसा नहीं है; परंतु वास्तव में ज्ञानी अर्थात् जिसने स्वसंवेदन द्वारा चैतन्य का स्वाद लिया है, राग से पृथक् होकर अंतर में भगवान से भेंट की है, वही सच्चा ज्ञानी है। ऐसे ज्ञानी बुद्धिपूर्वक-रुचिपूर्वक राग नहीं करते, क्योंकि अपने चैतन्यस्वभाव को राग से अत्यंत भिन्न जाना है, अनुभव किया है। देखो, यह परमात्मा का मार्ग। परमात्मा कहते हैं कि हमें जहाँ से परमात्मदशा प्रगट हुई, वहाँ तू पहुँच अर्थात् अपनी पर्याय को उस ओर उन्मुख कर तो तू हमारे मार्ग पर आ गया—ऐसा कहा जायेगा। किंतु जो राग में लाभ मानकर रुका, वह परमात्मा के मार्ग पर नहीं आया, उसने परमात्मा को नहीं जाना है। अंतर्मुख होकर जिसने परमात्मस्वरूप को देखा है, वह धर्मात्मा परमात्मा के पथ पर है, उसकी परिणति राग से विमुख होकर चैतन्यस्वभावोन्मुख हो गई है। धर्मात्मा की ऐसी परिणति है... ज्यों-ज्यों द्रव्य-पर्याय की एकता होती जाती है, त्यों-त्यों आस्त्रव का अभाव होता जाता है.. संपूर्ण एकता होने पर आस्त्रव का सर्वथा अभाव होकर परमात्मदशा प्रगट हो जाती है।

सत्पुरुष-वचनामृत

❀ ज्ञानी जो कार्य करते हैं, वह अद्‌भुत है। सत्पुरुष के वचन बिना विचार नहीं आता। विचार बिना वैराग्य नहीं आता। इस कारण सत्पुरुष के वचनों का बारम्बार विचार करना चाहिये।

❀ ज्ञान तो वह है कि जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुकती हैं, संसार से प्रीति वास्तव में घटती है, सत्य को सत्य जानता है तथा जिससे आत्मा में गुण प्रगट होते हैं, वही ज्ञान है।

❀ यदि मनुष्यभव प्राप्त करके कमाने में तथा स्त्री-पुत्र में तदाकार होकर आत्म-विचार नहीं किया, अपने दोषों को नहीं देखा, आत्मनिंदा (अनिंद्य के लक्ष से) न की तो वह मनुष्य भव-रत्न चिन्तामणिरूप देह वृथा जाता है।

❀ जीव मिथ्या संग से तथा असद्‌गुरु के कारण अनादिकाल से भटक रहा है, इसलिये सत्पुरुष को जानना चाहिये।

सत्पुरुष कैसे हैं ?—सत्पुरुष वे हैं कि देह से जिनका ममत्व छूट गया है और ज्ञान प्राप्त हुआ है।

ऐसे ज्ञानी पुरुष की आज्ञा में वर्ते तो अपने दोष कम हों, कषायादि की क्षीणता हो और परिणामतः सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाये।

❀ किसी के देने से दिया नहीं जाता, किसी के लेने से लिया नहीं जाता; जीव व्यर्थ ही कल्पना करके भटकता है। जैसे कर्म उपार्जित किये हों, तदनुसार लाभ, अलाभ, आयुष, साता, असाता के संयोग मिलते हैं। अपने से कुछ भी दिया-लिया नहीं जाता। अहंकार करके 'मैंने उसे सुखी किया, मैंने दुःखी किया, मैंने अन्न दिया'—ऐसी मिथ्या भावना करता है और उसके कारण कर्मोपार्जन करता है; मिथ्यात्व के कारण मिथ्या धर्म का उपार्जन करता है।

❀ यदि सच्चे वैद्य की प्राप्ति हो तो देह का विधर्म सहज ही औषधि द्वारा स्वधर्म को ग्रहण करता है; उसीप्रकार यदि सच्चे गुरु की प्राप्ति हो तो आत्मा की शांति अति सुगमता से तथा सहज ही होती है; इसलिये वैसी क्रिया करने में स्वयं तत्पर अर्थात् अप्रमादी होना चाहिये। प्रमाद करके उल्टे कायर होना ठीक नहीं है।

❀ शरीर छूटता है, वह पर्याय (शरीर) छूटती है, किंतु आत्मा आत्माकाररूप से अखंड बना रहता है। अपना कुछ नहीं जाता, जो जाता है, वह अपना नहीं है—ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, तब तक मृत्यु का भय रहता है। (श्रीमद् राजचंद्र व्याख्यानसार)

ज्ञा...न...म...हि...मा

❀ ज्ञान की अचिंत्य महिमा लक्ष में आने से परिणति अंतर्मुख होती है और संसार का रस छूट जाता है।

❀ ज्ञानस्वभाव की अचिंत्य सामर्थ्य है; जिसे उसकी धुन लग जाये, उसे उसी का ध्यान होता है और अन्य सब वस्तुओं का माहात्म्य छूट जाता है। उसकी परिणति अंतर्मुख हो जाती है।

❀ अपने पद का निर्णय जीव ने कभी नहीं किया। ज्ञानस्वभाव की महिमा में जिसका मन लग गया उसे, सांसारिक उपाधियाँ छू नहीं सकती।

❀ पर्याय को ज्ञानस्वभाव में एकाग्र किये बिना ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति नहीं हो सकती।

❀ जिसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने की धुन लगी, उसका राग की ओर झुकाव नहीं रहा। राग से पृथक् होकर जो ज्ञानपरिणति अंतरोन्मुख हो गई, वह ज्ञान भले ही अल्प हो, तथापि उसने केवलज्ञान का अचिंत्य सामर्थ्य लक्ष में ले लिया है। अहा, केवलज्ञान कितना महान है!—ऐसी प्रतीति करनेवाला ज्ञान अंतर्मुख होकर वह प्रतीति करता है; राग में रहकर वह प्रतीति नहीं होती।

❀ अहा, ऐसे ज्ञान की महिमा का विचार भी संसार की सर्व उपाधि को भुला देता है। ज्ञान में संसार नहीं है, ज्ञान में विभाव नहीं है।

❀ आत्मा की महिमा अचिंत्य है, उसका ज्ञान-सामर्थ्य अचिंत्य है। ज्ञेयों में वर्तमान में त्रैकालिक सामर्थ्य है, तो ज्ञान में भी त्रिकाल को जानने की सामर्थ्य वर्तमान में है। जिसप्रकार ज्ञेयपदार्थ त्रैकालिक पर्याय के सामर्थ्यसहित एक समय में परिपूर्ण है, उसीप्रकार ज्ञान सामर्थ्य भी एक समय में त्रिकाल को जानने की सामर्थ्य सहित पूर्ण है, और उस सामर्थ्य को प्रतीति में लेनेवाला श्रुतज्ञान अपनी पूर्ण सामर्थ्य को प्रत्यक्षभूत करता हुआ प्रगट होता है। वह ज्ञानपर्याय नि:संदेह है। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण ज्ञेय का जिसने निर्णय किया, वह ज्ञान भी अब परिपूर्ण परिणमित हुए बिना नहीं रहेगा, अर्थात् अल्प काल में श्रुतज्ञान में से पलटकर केवलज्ञान होगा। अहो, केवलज्ञान की अचिंत्य सामर्थ्य को प्रतीति में लेनेवाले श्रुतज्ञान की भी कितनी सामर्थ्य है! उस श्रुतज्ञान में केवलज्ञान को प्रतीति में लेने की सामर्थ्य वर्तमान में है। वह श्रुतज्ञान, केवलज्ञान के साथ केलि करनेवाला है, इसलिये भव धारण करना या विकार करना उस ज्ञान में नहीं रहता।

❀ देखो, यह ज्ञान की दिव्य सामर्थ्य! ऐसी दिव्य सामर्थ्य का किस प्रकार निर्णय करेगा?

क्या इन्द्रियों में या राग में उसका निर्णय करने की शक्ति है ?—नहीं; क्या अल्पपर्याय की ओर देखने से वह सामर्थ्य प्रतीति में आयेगी ?—नहीं; ज्ञानपर्याय को अंतरोन्मुख करके दिव्यस्वभाव की ओर ले जाये तो ऐसी ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति होती है; यही सम्यग्दर्शन की रीति है।

❀ बस, लक्ष को बदलकर अंतर में ले जा! दूसरा कुछ नहीं करना है। स्वभाव का माहात्म्य आये, उसमें कहीं कोई झगड़ा या झंझट नहीं है। चिदानंद वस्तु को भेंटने से ज्ञानपर्याय खिलती है, राग को भेंटने से ज्ञानपर्याय का विकास नहीं होता। निजज्ञानस्वभाव की महिमा लाकर ज्ञान को अंतर्मुख परिणमित करना ही मुक्ति का उपाय है।

भगवान! मेरे साथ चलो....

'ममल पाहुड़' में श्री तारणस्वामी ने एक 'उमाहो फूलना' (एक प्रकार की लोरी) रचा है; उसमें एक सम्यग्दृष्टि सिद्धगति प्राप्त करने की अथवा मोक्ष में जाने की भावना करता है और साथ ही श्री अरिहंत भगवान की भक्ति भी करता है। वह ऐसी भावना भाता है कि—हे भगवान! जब तक मैं मोक्षपुरी में न पहुँचू, तब तक आप मेरे साथ ही साथ चलो! मोक्ष जाते-जाते साधक ने अपने हृदय में सिद्ध भगवान की स्थापना की है अर्थात् सिद्ध भगवान उसके साथ ही साथ हैं। हे भगवान! मोक्ष जाने तक आप मेरे साथ ही रहो... अर्थात् आपके उपदेश का अवलंबन तथा आपके स्वरूप का चिंतवन बना रहे; ताकि बीच में भंग पड़े बिना आत्मा की उन्नति करता-करता मोक्षपुरी में चला जाऊँ, बीच में कहीं विमुख न होऊँ। वह साधक सिद्धक्षेत्र को ही अपना देश कहता है; सिद्ध-पर्याय को ही अपना वेश समझता है तथा सिद्धसुख को अपनी शय्या मानता है। इसप्रकार 'फूलना' द्वारा प्रेरणा दी है कि—हे जीव! तू निश्चिंत होकर अपने सिद्ध समान शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास कर। उस स्वानुभवरूप जहाज पर चढ़कर तू मोक्ष द्वीप में पहुँच जायेगा।

चलि चलहुन हो जिनवरस्वामी अपनेउ साथा...
चलि चलहुन हो जिनवरस्वामी अपनेउ देशा...
चिल चलहुन हो जिनवरस्वामी सिद्ध सहेसा...

साधक कहता है—चलि चलहु... हे भगवान चलो... चलो! मैं सिद्ध पद की साधना करके मोक्ष में आने के लिये निकला हूँ, तो हे भगवान! अपने मोक्ष देश में क्या आप मेरे साथ नहीं चलोगे! चलि चलहु... चलो... चलो भगवान! मेरे साथ चलो। हे जिनेन्द्र! निजस्वरूप के स्वदेश में आप मेरे साथ चलो!

देखो तो सही, कैसी सरस रचना की है।

मोक्ष का साधक भव्य जीव श्री अरिहंत भक्ति में मग्न होकर कहता है कि हे जिनेन्द्र! क्या आप हमारे साथ अपने मोक्षरूपी देश में नहीं चलेंगे? मुक्ति से मिलन के लिये मेरे अंतर में आत्मकमल के रस का अनुभव प्रगट हुआ है; मुझे श्री जिनेन्द्रदेव के ऐसे उपदेश की प्राप्ति हुई है कि चैतन्यसूर्य का अनुभव करके वीतरागभाव प्रगट करूँ। उस हितकारी सहायक भाव द्वारा यह जीव मुक्तिपुरी में प्रवेश करता है।

जिसप्रकार प्रवचनसार के मंगलाचरण में आचार्यदेव ने, मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर समान जो दीक्षा का उत्सव, उसमें सर्व परमेष्ठी भगवन्तों को बुलाकर अपने अंतर में उतारा है... अपने ज्ञान में पंच परमेष्ठी को साक्षात् उपस्थिति करके चारित्रदशा को साधते हैं... मोक्षदशा का स्वयंवर करते हैं। उसीप्रकार यहाँ साधक कहता है कि हे भगवान! चलो... मेरे साथ चलो... मोक्षपुरी में जाते समय मेरे साथ ही रहो। अहो! जहाँ पंच परमेष्ठी का साथ मिला, वहाँ मोक्षदशा वापिस नहीं लौटती... बीच में विघ्न नहीं आता। प्रभो! चैतन्य की लगन द्वारा मोक्षदशा के साथ होनेवाले विवाह में आपको बुलाया है। जिसप्रकार विवाह के समय बड़े सेठ को साथ रखते हैं; उसमें हेतु यह है कि कन्या को वरण करने में कोई विघ्न उपस्थित न हो; उसीप्रकार यहाँ साधक जीव चैतन्य की लगनपूर्वक सेठ-श्रेष्ठ ऐसे अनंत तीर्थंकरों—सिद्ध भगवंतों को साथ में—हृदय में रखकर मोक्ष साधने के लिये निकला है; अब उसकी मोक्षदशा रुकेगी नहीं, वह लौटेगा नहीं... अप्रतिहत भाव से मोक्षदशा लेकर ही रहेगा।

हे भगवान! क्या आप मेरे साथ निजवेश में नहीं चलेंगे! हमारा निजवेश तो सिद्ध समान है। (सिद्धसमान सदा पद मेरा) हे जिनेन्द्र भगवान! आप मेरे साथ रहकर मुक्तिपुरी में चलो! जब तक मैं मोक्ष के निकट न पहुँचूँगा, तब तक आपका साथ अर्थात् आपकी भक्ति तथा आपके स्वरूप का ध्यान नहीं छोड़ूँगा। साधक कहता है—सिद्ध पर्याय मेरी शय्या है कि जिसमें आत्मा अनंत काल तक परमानंदसहित विश्राम करता है। हे जिनेन्द्रदेव! ऐसी सिद्ध शय्या में क्या आप मेरे साथ नहीं

चलेंगे! हे भगवान! मुक्तिपुरी में जाते हुए आप मेरे सहकारी हो। प्रभो! मैं सिद्ध भगवान के निकट जा रहा हूँ... आप मेरे साथ सिद्धपुरी में चलो! प्रभो! मोक्षपंथ में आप मेरे सार्थवाह हैं... मोक्ष में जाने के लिये आप मेरे संगाथी-साथी हैं... आप मेरे साथ ही रहो। हमें आपका ही साथ है, अन्य किसी का साथ हमें नहीं है... राग का भी साथ नहीं है। समयसार में 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' कहकर आत्मा में सिद्ध भगवंतों की स्थापना करके साधकदशा प्रारम्भ की है और इसप्रकार अपूर्व मंगलाचरण किया है। (अष्टप्रवचन से)

उपयोगस्वरूप स्वगृह में वास करना

—वह—

वास्तु-प्रवेश है

समयसार गाथा ५७ के प्रवचन से

वर्णादि तथा रागादि भाव, वे जीव के स्वभावभूत नहीं हैं, जीव के चेतनामय स्वभाव से वे भाव भिन्न हैं। जीव के ऐसे चेतनामय स्वभाव को पहचानकर उसमें वास करना, सो सच्चा गृहप्रवेश है। बाह्य के जड़ मकान में आत्मा का सच्चा प्रवेश नहीं है। अपने स्वगुण-पर्याय में निवास करना, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिर होना, सो सच्चा वास्तु प्रवेश है। ऐसे स्वगृह में निवास जीव ने पहले कभी नहीं किया, इसलिये वह अपूर्व प्रवेश है।

भगवन! तू तो ज्ञातादृष्टा है; रागादि परभाव या शरीरादि परद्रव्यों के साथ तेरे भाव का कुछ भी संबंध नहीं है; एकक्षेत्र में रहने पर भी भाव से अत्यंत भिन्नता है। चेतनभाव और रागभाव में किंचित् एकता नहीं है। राग बहिर्मुख भाव है, उसे साथ लेकर अंतर में नहीं पहुँचा जाता, इसलिये अंतर के स्वभाव से वह भिन्न है। जिसप्रकार दूध और पानी एकक्षेत्र में होने पर भी दोनों की स्वभाव से एकता नहीं है, दोनों के स्वभाव भिन्न हैं; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा को वर्णादि-रागादिभावों के साथ एक क्षेत्रपना होने पर भी उनके अग्नि और उष्णता की भाँति भाव से एकता नहीं है। आत्मा

तो ज्ञाता-स्वभाव है और वर्णादि ज्ञातास्वभाव से रहित हैं; शुभाशुभभाव भी विकार हैं, उनमें चेतकपना नहीं है। चेतन के निकट रहने से मानों वे भी चेतन के साथ एकमेक ही हों—ऐसा अज्ञानी को भिन्न लक्षण की अप्रतीति के कारण लगता है; किंतु दोनों के लक्षण अत्यंत भिन्न हैं, लक्षण द्वारा दोनों की भिन्नता जानकर अंतर में चैतन्यस्वभाव का राग से भिन्न अनुभव करने पर सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

❀ आत्मा का स्वलक्षण क्या ?—उपयोग।

❀ उस उपयोग के साथ आत्मा तादात्म्य है, एकमेक है;

❀ वह उपयोग परभाव उपाधिरहित निरुपाधि है।

रागादिभावों की उपयोग के साथ एकता नहीं है।

अहा! यहाँ तो कहते हैं कि—जिसप्रकार वर्णादिभाव उपयोग से भिन्न हैं, उसीप्रकार रागादिभाव भी आत्मा के उपयोग से भिन्न हैं। जिसप्रकार शरीर से उपयोग पृथक् है, उसीप्रकार राग से भी पृथक् है। अनादि से राग को अपना स्वरूप मानकर उस राग में वास किया है, यानी स्वगृह को भूलकर परगृह में निवास कर रहा है। राग और उपयोग की भिन्नता का अनुभव करके चैतन्य के उपयोग में निवास करना, वह अपूर्व वास है। उसने निजगृह में वास किया है।

भाई, तुझे सम्यग्दर्शन करना हो, आत्मा का सम्यक् अनुभव करना हो तो अंतर्दृष्टि द्वारा ऐसे आत्मा का अवलोकन कर। देवाधिदेव तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवंतों ने जैसा आत्मा का अनुभव किया और वाणी में कहा, वैसा ही अनुभव संतों ने किया है और वैसा ही यहाँ बतलाया है। वैसा ही अनुभव अपने ज्ञान में करे, तब सम्यग्दर्शन होता है। अरे जीव! अंतर्लक्ष करके एकबार उल्लास-पूर्वक स्वीकार तो कर!

❀ जिसप्रकार दूध और पानी में एकता नहीं है, उसीप्रकार आत्मा को वर्णादि या रागादि के साथ एकता नहीं है।

❀ जिसप्रकार अग्नि में और उष्णता में एकता है, उसीप्रकार आत्मा में और उपयोग में एकता है।

❀ जिसप्रकार दूध और पानी में भिन्न स्वभावपना हैं, उसीप्रकार उपयोगस्वरूप आत्मा में और अनुपयोगस्वरूप वर्णादि तथा रागादि में भिन्न स्वभावपना है।

❀ जिसप्रकार अग्नि और उष्णता में भिन्न स्वभावपना नहीं है, उसीप्रकार उपयोग में और

आत्मा में भिन्न स्वभावपना नहीं है।

अहो! आचार्यदेव ने अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार के दृष्टांत से स्पष्ट भेदज्ञान कराके, राग से और जड़ से भिन्न उपयोगस्वरूप आत्मा बतलाया है।—ऐसे आत्मा का अनुभव करना, सो धर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से धर्म नहीं होता।

आत्मा की सम्यग्दर्शनादि पर्यायें अपने निरुपाधिस्वभाव के आश्रय से ही उत्पन्न होती हैं; वे जड़ के या विकार के आश्रय से नहीं होतीं। पर्याय के या भेद के आश्रय से भी सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति नहीं होती। उपयोगस्वरूप आत्मा में पर्याय अभेदरूप से लीन हो, तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं। गुणस्थानों के भेद का विचार करने से भी आत्मा अनुभव में नहीं आता। सर्व परद्रव्यों से तथा सर्व परभावों से अधिक ऐसे आत्मा में पर्याय को अंतर्मुख करने से द्रव्य-पर्याय का भेद भी भासित नहीं होता—इसप्रकार अंतर्मुखदृष्टि द्वारा आत्मस्वभाव को प्रतीति में लेना, सो सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन का परिणमन राग से तथा वर्णादि से भिन्न है। जैसा स्वभाव था, वैसा ही पर्याय में भी परिणमन हो गया—उसका नाम धर्म है।

भजन

आत्म गगन में ज्ञान ही गंगा, जिसमें अमृतवासा।
सम्यग्दृष्टि भर भर पीवे, मिथ्यादृष्टि प्यासा॥१॥
आतम नगरी में चेतन राज्य है, ज्ञायक कारक थावेजी।
नृप अभावे तो विप्लव वर्ते है, अराजकता मद छावेजी॥२॥
इण परकारे तो चिद् अवलोकीये
चेतन नगरी में ज्ञायक राज्य है, सम्यक् न्याय दिपावेजी।
नृप सद्भावे वो शांति वर्ते है, परमातम पद पावेजी॥
इण परकारे तो चिद् अवलोकीये।

विनती

(कविवर भूधरदासजी)

[चौपाई १६ मात्रा]

जै जगपूज परमगुरु नामी, पतित उधारन अंतरजामी,
दास दुखी तुम अति उपकारी, सुनिये प्रभु! अरदास हमारी,
यह भव घोर समुद्र महा है, भूधर भ्रम-जल पूर रहौ है,
अंतर दुख दु:सह बहु तेरे, ते वडवानल साहिब मेरे,
जनम जरा गद मरन जहाँ है, देही प्रबल तरंग तहाँ है,
आवत विपति नदी गन जामैं, मोह महान मगर इक तामें,
तिस मुख जीव पर्‌यो दुख पावै, हे जिन! तुम विन कौन छुडावै,
अशरन शरन अनुग्रह कीजै, यह दुख मेटि मुक्ति मुझ दीजै,
दरीघ काल गयो विललावै, अब ये सूल सहे नहिं जावै,
सुनियत यौं जिन शासन मांहीं, पंचमकाल परमपद नाहीं,
[१]कारण पांच मिलैं सब सारे, तब शिव सेवक जाहिं तुम्हारे,
तातैं यह बिनती अब मेरी, स्वामी! शरण लही हम तेरी,
प्रभु आगैं चितचाह प्रकासौं, भव भव श्रावक कुल अभिलासौं,
भव भव जिन आगम अवगाहौं, भव भव भक्ति शरण की चाहौं,
भव भव में सत संगति पाऊं, भव भव साधुन के गुन गाऊं,
पर निंदा मुख भूलि न भाखूँ, मैत्री भाव सबन सौं राखूँ,
भव भव अनुभव आतम केरा, ताहु समाधि मरण नित मेरा,

१—कारण पाँच—पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति, और कर्म।

जब लौं जनम जगत में लाधौं ×काललब्धि बल लहि शिव साधौं,
तब लौं ये प्रापति मुझ हूजो, भक्ति प्रताप मनोरथ पूजौं,
प्रभु सब समरथ हम यह लौरैं, 'भूधर' अरज करत कर जोरै,

तत्त्वचर्चा

छठवें गुणस्थान में मुनि के निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय एक साथ होते हैं।

(गतांक नंबर २३७ से चालू)

दो गुणों को एकत्र करके सम्यक्त्व को सराग-व्यवहार अथवा वीतराग सम्यक्त कहने में आता है किंतु सम्यक्त्व तो सिद्ध भगवान को और तुच्छ ज्ञानी संज्ञी पंचेनिद्रय तिर्यंच को समान है।

तिर्यंच को चतुर्थ गुणस्थान या पंचम गुणस्थान हो सकता है, इस विषय में श्री पंडित टोडरमलजी 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखते हैं कि—चतुर्थ गुणस्थान से प्रगट होनेवाला सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यक्त्व ही है, और व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन से अन्य प्रकार से होता है, और आत्मा का अनुभव चतुर्थ गुणस्थान से शुरु होता है।

×काललब्धि=निजपरिणाम की प्राप्ति के अपूर्व पुरुषार्थ; समयसार गाथा ३२० की जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका में काललब्धि के संबंध में कहा है कि—'जब काल आदि लब्धियों के वश से भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति-(प्रगटता) करता है, तब यह जीव सहज ही शुद्ध पारिणामिकभावरूपी लक्षण को रखनेवाले अपने ही परमात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व चारित्रमयी पर्याय से परिणमन करता है। उसी ही परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिकभाव कहते हैं। और उसी ही परिणमन को अध्यात्मिक भाषा की अपेक्षा से शुद्धात्मा के सन्मुख परिणाम व शुद्धोपयोग व उसी पर्याय को शुद आत्मीक द्रव्य से कथंचित् भिन्न और उसकी भावनारूप कहते हैं। यह सात बोल आंशिक ज्ञानचेतनारूप परिणतिमय निश्चयधर्म है, जो चतुर्थ गुणस्थान से ही शुरु होता है-ऐसा नियम है।

जीव पदार्थ अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है; स्व-पर का यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। फिर जिस काल में कोई जीव के दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम से स्व-पर का यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वश्रद्धान होता है, तब वह जीव सम्यक्त्वी होता है।

×××

इसलिये स्व-पर का यथार्थ [१]श्रद्धान में [१]शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।

पुनः जिसको स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान नहीं है किंतु जैनमत में कहे हुये देव, गुरु और धर्म तीनों को मानता है और अन्यमत में कहा हुआ देवादि वा तत्त्वादि को माने नहीं तो ऐसा [२]केवल व्यवहार सम्यक्त्व से वह सम्यक्त्वी नाम पाता नहीं। इसलिये स्व-पर भेदविज्ञानपूर्वक जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होय, वह सम्यक्त्व जानना।

प्रथम सम्यग्दर्शन ही पूज्य है

श्लोकवार्तिक टीका, अध्याय १, सूत्र १ श्लोक ३४ बाद ४३ पंक्ति पीछे उसकी चर्चा में आया है कि ....कोई भी सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि—पूर्ण उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से कारणता का विचार कर दर्शन को पूज्यपना हमने कहा है, केवलज्ञान के प्रथम क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो चुका है, किंतु क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञानपूर्वक नहीं है, जिससे कि उस पूर्ण दर्शन की अपेक्षा से किया गया पूर्णज्ञान पूज्य समझा जावे और दूसरा समाधान यहाँ यह समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन ही इस जीव के भविष्य अनंत भवों के मूल सहित नाश का कारण है। एकबार सम्यग्दर्शन के हो जाने पर अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल में अवश्य ही मोक्ष हो जाती है। अनंतानंत भवों में परिभ्रमण करने की अपेक्षा थोड़े से असंख्यात, संख्यात भवों में परावर्तन कर मोक्ष में विराजमान कर देने का श्रेय सम्यग्दर्शन गुण के माथे पर लगा हुआ है। इस

---

१. धवला पुस्तक १, पृष्ठ ३९६ में निश्चय सम्यक्त्व को यथार्थ श्रद्धान कहा है, इसप्रकार यहाँ भी श्री पंडित टोडरमलजी कहते हैं। और अविरत सम्यग्दृष्टि को भी शुद्धात्मानुभव होना ही चाहिये, रहस्यपूर्ण चिट्ठी में पंडितजी ने स्पष्ट कहा है कि ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थान में होता है।

२. यहाँ निश्चय सम्यक्त्व रहित केवल व्यवहार सम्यक्त्व जिसको है, उसको अगृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है- गृहीतमिथ्यात्व उसको नहीं है, ऐसा समझना। नवतत्त्वों का भेदरूप श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है, वह श्रद्धा गुण की पर्याय नहीं है किंतु वह तो चारित्र गुण की श्रद्धा संबंधी मंद कषायरूप पर्याय है, औदयिक भाव है।

सम्यग्दर्शन के बल पर और अनेक गुण भी आत्मा में व्यक्त हो जाते हैं। इस कारण सम्यग्दर्शन ही पूज्य है।

संवर-निर्जरा भी निश्चयनय से रत्नत्रय है

श्लोकवार्तिक अध्याय १, सूत्र ३, श्लोक ३४-६५ में से यह भाव

'....अतः रत्नत्रय संवररूप है। निर्जरा और मोक्ष भी निश्चयनय से रत्नत्रय स्वरूप ही है। अतः जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा ये सब तत्त्व रत्नत्रय का ही न्यूनाधिक परिकर है' यहाँ शुभास्रव को रत्नत्रय का उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से नीचे कैसा राग निमित्तरूप सहचर होता है, उसका ज्ञान कराने के लिये बताया है जो प्रथम से ही चतुर्थ गुणस्थानक से ही स्वाश्रित निश्चय रत्नत्रय का आंशिक सद्भाव हो तो ही भूमिकानुसार शुभरागरूप व्यवहार जो आस्रवतत्त्व है, उसे उपचार से रत्नत्रय का ही न्यूनाधिक परिकर कह सकते हैं, निश्चय धर्म बिना अकेला व्यवहारधर्म तो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी को भी होता है। अतः चतुर्थ गुणस्थान से ही दोनों नय के विषयभूत आंशिक निश्चय धर्म और यथापदवी व्यवहार (उपचार) धर्म मानना जिनागम का कथन है, आठवें गुणस्थान से या तेरहवें गुणस्थान से ही निश्चय धर्म-निश्चय मोक्षमार्ग मानना और चतुर्थ गुणस्थान से निश्चय धर्म को अंशमात्र न मानना जैनागम से विरुद्ध है।

विश्व वंदनीय-धर्म साम्राज्य नायक
आदि तीर्थंकर

भगवान श्री ऋषभदेव

[जब वह वज्रनाभि चक्रवर्ती का जीव अहमिन्द्र, स्वर्ग लोक से इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के अयोध्यानगर में जन्म लेने के सन्मुख हुआ; तब इस संसार में जो वृत्तांत हुआ था, इसका वर्णन भगवान श्री जिनसेनाचार्य कृत महापुराण के आधार से यहाँ दिया जाता है।]

(गतांक से चालू)

श्री गणधर भगवान कहते हैं कि—हे भव्य! जब इस भारतवर्ष में भोगभूमि की स्थिति नष्ट हो गई थी और कर्मभूमि का प्रारम्भ होने का समय था, तब भरतक्षेत्र के आर्यखंड में चौदह कुलकरों में अंतिम कुलकर श्री नाभिराज हुए थे। वे चंद्रमा के समान अनेक विद्या-कला के आधार थे। सूर्य के समान तेजस्वी थे। इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली थे और कल्पवृक्ष के समान मनचाहे फल देनेवाले थे। उस नाभिराज के मरुदेवी नाम की रानी थी, जो कि अपने रूप, सौंदर्य, कांति, शोभा, बुद्धि, द्युति और विभूति आदि गुणों से इन्द्राणीदेवी समान थी। गुणरूपी रत्नों की खानि मरुदेवी बिना पढ़े ही पंडिता थीं, और परम पतिव्रता स्त्री थी।

उस मरुदेवी का विवाह श्री नाभिराज के साथ देवों ने भी बड़ी विभूति के साथ किया था। फिर मनुष्यों का तो पूछना ही क्या? संसार में महाराज नाभिराज की सबसे अधिक पुण्यवान थे। और मरुदेवी सबसे अधिक पुण्यवती थीं। क्योंकि जिनके घर स्वयंभू भगवान ऋषभदेव उत्पन्न होंगे, उनके समान और कौन पुण्यवान हो सकता है? मरुदेवी और नाभिराज से अलंकृत पवित्र स्थान में जब कल्पवृक्षों का अभाव हो गया, तब यहाँ उनके पुण्य के द्वारा इन्द्र ने एक नगर की रचना की। उस नगरी का नाम अयोध्या सार्थक था, क्योंकि कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकता था। तथा वह नगरी अनेक विनीत-शिक्षित पढ़े-लिखे विनयवान और सभ्य मनुष्यों से व्याप्त थी इसलिये उसका दूसरा नाम विनीता भी था। जिन्हें अनेक संपदाओं की परम्परा प्राप्त हुई थी, ऐसे महाराज नाभिराज और मरुदेवी ने अत्यंत आनंदित होकर उस अनेक ऋद्धियुक्त अयोध्याय नगरी में निवास करना प्रारम्भ किया था। इन दोनों के यहाँ सर्वज्ञ ऋषभदेव पुत्र जन्म लेंगे, यह समझकर इन्द्र ने अभिषेकपूर्वक उन दोनों की बड़ी-बड़ी पूजा की थी।

तदनंतर छह महीने बाद ही भगवान ऋषभेदव यहाँ स्वर्ग से अवतार लेंगे, ऐसा जानकर देवों ने बड़े आदर के साथ आकाश से रत्नों की वर्षा की। इसप्रकार स्वामी ऋषभदेव के स्वर्गावतरण से छह महीने पहले से लेकर अतिशय पवित्र नाभिराज के घर पर रत्न और सुवर्ण की वर्षा हुई थी। और इसीप्रकार गर्भावतरण से पीछे भी नौ महीने तक रत्न तथा सुवर्ण की वर्षा होती ही रही; मानों कि जगत को भगवान की हिरण्यगर्भता बतलाने के लिये ही की है। किसी दिन मरुदेवी राजमहल में उज्ज्वल कोमल शय्या पर सो रही थी। सोते समय उसने रात्रि के पिछले प्रहर में जिनेन्द्रदेव के जन्म को सूचित करनेवाले और शुभफल को देनेवाले नीचे लिखे हुए स्वप्न देखे। (१) ऐरावत हाथी, (२) बैल, (३) सिंह, (४) कमलासन लक्ष्मी, (५) दो पुष्प मालाएँ, (६) पूर्ण चंद्र मंडल, (७) उदित सूर्य, (८) सुवर्ण के दो कलश, (९) दो मछलियाँ, (१०) सुंदर तालाब, (११) समुद्र, (१२) ऊँचा सिंहासन, (१३) स्वर्ग का विमान, (१४) नागेन्द्र का भवन, (१५) रत्नों की राशि, (१६) धूम रहित अग्नि; इसप्रकार सोलह स्वप्न देखने के बाद उसने देखा कि सुवर्ण की कांति समान ऊँचा बैल हमारे मुख कमल में प्रवेश कर रहा है।

शुभ स्वप्न देखने से जिसे अत्यंत आनंद हो रहा है, ऐसी जागी हुई मरुदेवी प्रभात के समय स्नान कर और वस्त्राभूषण धारण कर अपने पति के समीप आई। उसने वहाँ जाकर महाराज नाभिराज के दर्शन किये और सुखपूर्वक बैठकर राज्य सिंहासन पर बैठे हुए महाराज से इसप्रकार निवेदन किया। हे देव! आज मैंने रात के पिछले भाग में सोलह स्वप्न देखे हैं। हे देव! आप इन स्वप्नों का फल कहिये। तदनंतर अवधिज्ञान के द्वारा जिन्होंने स्वप्नों का उत्तम फल जान लिया है, ऐसे नाभिराज, मरुदेवी के लिये स्वप्न का फल कहने लगे। हे देवी! सुन, हाथी के देखने से तेरे उत्तम पुत्र होगा। बैल देखने से वह समस्त लोक में ज्येष्ठ होगा। सिंह के देखने से वह समस्त लोक में श्रेष्ठ होगा। सिंह देखने से वह अनंत बल से युक्त होगा। माला देखने से वह समीचीन धर्म के तीर्थ का चलानेवाला होगा। लक्ष्मी के देखने से वह सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों के द्वारा अभिषेक को प्राप्त होगा। पूर्ण चंद्रमा देखने से समस्त लोगों को आनंद देनेवाला होगा। सूर्य के देखने से दैदीप्यमान प्रभा का धारक होगा। दो कलश देखने से अनेक निधियों को प्राप्त होगा। मछलियों का युगल देखने से सुखी होगा। सरोवर के देखने से अनेक लक्षणों से शोभित होगा। समुद्र के देखने से केवली होगा। सिंहासन देखने से जगत का गुरु होकर साम्राज्य को प्राप्त करेगा। देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतीर्ण होगा। नागेन्द्र का भवन देखने से अवधिज्ञानरूपी लोचनों से युक्त होगा। चमकते हुये रत्नों की राशि देखने से गुणों की खान होगा, और निर्धूम अग्नि के देखने से

कर्मरूपी ईंधन को जलानेवाला होगा। तथा तुम्हारे मुख में जो वृषभ ने प्रवेश किया है, उसका फल यह है कि तुम्हारे निर्मल गर्भ में भगवान वृषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे। इसप्रकार का फल सुनकर मरुदेवी बहुत प्रसन्न हुई।

आषाढ़ कृष्ण द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वज्रनाभि अहमिन्द्र, देवायु का अंत होने पर सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ और वहाँ सीप के संपुट में मोती की तरह सब बाधाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हो गया। उस समय इन्द्र आदि ने आकर गर्भ कल्याणक महोत्सव उल्लास से मनाया और माता-पिता का सन्मान किया। उसी समय से लेकर इन्द्र की आज्ञा से दिक्कुमारी देवियाँ उस समय होने योग्य कार्यों के द्वारा दासियों के समान मरुदेवी की सेवा करने लगीं। वह माता प्रथम तो स्वभाव से ही निर्मल और सुंदर थी। इतने पर श्री कीर्ति, आदि देवियों ने उसे विशुद्ध किया था। वे देवियाँ विविध प्रकार से माता की सेवा करती थीं और गीत, नृत्य, धर्म चर्चा आदि उसके साथ करके मरुदेवी को प्रसन्न रखती थीं। वे कहती थीं कि हे माता! आपका पुत्र सदा जयवंत रहे जो कि जगत को जीतनेवाला है, काम को पराजित करनेवाला है, सज्जनों का आधार है, सर्वज्ञ है, तीर्थंकर है और कृतकृत्य है। इसप्रकार देवियों से प्रसन्न रहकर माता सुख से दिन पसार कर रही थी। गर्भकाल में माता के उदर में कोई विकार (परिवर्तन) हुआ न था, फिर भी गर्भ बढ़ता जाता था, यह एक आश्चर्य की बात थी। मरुदेवी के निर्मल गर्भ में स्थित तथा मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से विशुद्ध अंत:करण को धारण करनेवाले भगवान वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे, जैसा कि स्फटिकमणि के बने हुए घर के बीच में रखा हुआ निश्चल दीपक सुशोभित होता है। अपने समस्त पापों का नाश करने के लिये इन्द्र के द्वारा भेजी हुई इंद्राणी भी अप्सराओं के साथ गुप्तरूप से महासती मरुदेवी की सेवा किया करती थी। तीनों लोकों में वही एक माता प्रशंसनीय थी क्योंकि वह वृषभदेव-भगवान की जननी थी। इसलिये कहना चाहिये कि वह समस्त लोक की जननी थी। इसप्रकार अनेक मंगल को धारण करनेवाली मरुदेवी माता और सुभावना से युक्त महाराजा नाभिराय सर्वज्ञ होनेवाले पुत्र की प्रतीक्षा करते हुए भारी धैर्य को धारण करते थे।

जन्म कल्याणक

जिसप्रकार प्रात:काल के समय पूर्व दिशा कमलों को विकसित करनेवाले प्रकाशमान सूर्य को प्राप्त होती है, उसीप्रकार वह मरुदेवी भी चैत्र कृष्णा नवमीं के दिन सूर्योदय के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोग में मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से शोभायमान बालक होने

पर भी गुणों से वृद्ध तथा तीनों लोगों के एकमात्र-स्वामी—ऐसे पुत्र को प्राप्त हुई थी। उस समय प्रजा का हर्ष बढ़ रहा था। देव आश्चर्य को प्राप्त हो रहे थे और कल्पवृक्ष ऊँचे से प्रफुल्लित फूल बरसा रहे थे। तदनंतर सिंहासन कंपायमान होने से अवधिज्ञान जोड़कर इन्द्र ने जान लिया कि समस्त पापों को जीतनेवाले जिनेन्द्रदेव का जन्म हुआ है, इसलिये समस्त देव परिवार के साथ आनंदपूर्वक जन्माभिषेक मनाने के लिये इन्द्र ने ऐरावत हाथी पर स्वर्ग से प्रस्थान किया। सौधर्म इन्द्र आदि अयोध्यापुरी में उतरे और शचि इंद्राणी ने बड़े उत्सव से प्रसूतिगृह में प्रवेश किया। इंद्राणी ने वहाँ जाकर पहले कई बार प्रदक्षिणा दी, फिर जगत के गुरु जिनेश्वरदेव को नमस्कार किया और माता की स्तुति की। हे माता! तू तीनों लोकों की कल्याणकारिणी माता है, मंगलकारी है और महादेवी एवं यशश्विनी है। बाद में माता को मायामयी नींद से युक्त कर माता के आगे दूसरा मायामयी बालक रखकर जगतगुरु जिन बालक को उठाकर इंद्राणी परम आनंद को प्राप्त हुई। बाद में इंद्राणी ने इस बालक को इन्द्र की हथेली पर विराजमान कर दिया। इन्द्र आदरसहित इंद्राणी के हाथ से भगवान को लेकर परम हर्ष से भगवान का रूप देखने लगा और उनकी स्तुति करने लगा।

तदनंतर जय-जय का उच्चारण करते हुए देव लोग आकाशरूपी आँगन में ऊपर की ओर चलने लगे। इन बालक को गोद में लेना, उन पर सफेद छत्र धारण करना और चमर ढोलना आदि सभी कार्य स्वयं अपने हाथ से करते हुए इन्द्र लोक भगवान के अलौकिक ऐश्वर्य को प्रकट कर रहे थे। उस समय की विभूति देखकर कितने ही अन्य मिथ्यादृष्टि देव इन्द्र को प्रमाण मानकर समीचीन जैनमार्ग में श्रद्धा करने लगे थे। इसप्रकार जय-जय और हर्षनाद से अनेक वादित्रों सहित आगे चलते-चलते देव आदि लोग पांडुक वन के स्थानों में स्फटिकमणि की बनी हुई पांडुक शिला के पास आ पहुँचे। तदनंतर इन्द्र ने बड़े प्रेम से देवों के साथ-साथ उस गिरीराज सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देकर उस पर जिनेन्द्ररूपी सूर्य को विराजमान किया। निर्मलता, पूज्यता, पवित्रता और जिनेन्द्रदेव को धारण करने की अपेक्षा वह पांडुकशिला जिनेन्द्रदेव की माता के समान शोभायमान है और मुनियों को बहुत ही इष्ट है। जिनेन्द्रदेव के जन्म कल्याणक की विभूति को देखने के अभिलाषी देवलोक उस पांडुकशिला को घेरकर सभी दिशाओं में क्रम-क्रम से यथायोग्य रूप में बैठ गये। उस समय वहीं पर इन्द्रों ने एक ऐसे बड़े भारी मंडप की रचना की थी कि जिसमें तीनों लोक के समस्त प्राणी परस्पर बाधा न देते हुए बैठ सकते थे। तत्पश्चात् बहुत से देव सुवर्णमय कलशों से क्षीर सागर का पवित्र जल लाने के लिये श्रेणीबद्ध होकर बड़े संतोष से निकले। जो स्वयं पवित्र है और जिसमें रुधिर भी क्षीर के समान अत्यंत स्वच्छ है, ऐसे भगवान के शरीर का स्पर्श करने के लिये क्षीर सागर के जल के सिवाय अन्य कोई जल योग्य नहीं है, ऐसा मानकर ही मानों देवों ने बड़े हर्ष के साथ पाँचवें क्षीर सागर के जल से ही भगवान का अभिषेक करने का निश्चय किया था। सौधर्म इन्द्र ने जय-जय शब्द का उच्चारण कर भगवान के मस्तक पर सुवर्ण कलश में से पहली जलधारा छोड़ी, उसी समय जय-जय-जय बोलते हुए अन्य करोड़ों देवों ने भी बड़ा भारी हर्षनाद किया था। भगवान स्वयं पवित्र थे, उन्होंने अपने पवित्र अंगों से उस जल को पवित्र कर दिया था और उस जल ने समस्त दिशाओं में फैलकर इस सारे संसार को पवित्र कर दिया था।

(क्रमशः)

[यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अभिषेक का जल मात्र क्षीर सागर से लाया जाता है। यही कारण है कि अभिषेक के लिये त्रस जीवों से रहित मात्र इस जल का ही उपयोग किया था और अभिषेक का कार्य मात्र सौधर्म और ऐशान इन्द्र ही करते थे, यही प्राचीन मूल परम्परा है। दूसरी बात यह है कि बाह्य अशुचिता जल से ही दूर की जा सकती है (शंका समाधान विभाग सन्मति संदेश में से)]

स्वतंत्र वस्तु स्वभाव की घोषणा

परमाणु या परमात्मा, अज्ञानी या केवलज्ञानी—सब अपने-अपने निजभाव में अपने स्वभाव से अनादि-अनंत वर्त रहे हैं। अरे जीव! जगत से भिन्न अपने स्वभाव को एक बार लक्ष में तो ले। अपनी परिणति अंतरोन्मुख करने से तुझे अपने परम अतीन्द्रिय आनंद का वेदन होगा। देखो, यह सम्यग्दर्शन की रीति! अहो, अंतर के वस्तुस्वभाव को जहाँ सम्यग्दर्शन द्वारा प्रतीति में लिया, वहाँ अपूर्व धर्म का प्रारम्भ हुआ। आज आठ कुमारिका बहिनें ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर रही हैं और आज इस प्रसंग पर यह उत्तम गाथा आयी है।

[भाद्रपद शुक्ला १ के दिन आठ कुमारिका बहिनों ने ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया। उस अवसर पर समयसार गाथा १०३ पर स्वतंत्र वस्तुस्वभाव की घोषणा करके स्वोन्मुख होने की प्रेरणा देनेवाला पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

★

यह समयसार शास्त्र की वचनिका है। इसमें गाथा १०३ बहुत उच्च है। अंतर में इस शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व है; उस चैतन्यशक्ति में सर्वज्ञपद और पूर्णानंद स्वभाव विद्यमान है। उसकी प्रतीति करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना, सो प्रथम धर्म है और पश्चात् उसके अनुभव में लीन होने से पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण आनंद विकसित हो जाये, उसका नाम अरिहंत पद है।—ऐसी प्रतीति सहित 'णमो अरिहंताणं' कहे तो सच्चा नमस्कार कहा जाये।

अनादिकाल से आत्मा अपने स्वरूप को भूला है। जैसे भगवान अरिहंत परमात्मा है, वैसा ही अपना स्वरूप है। भगवान की दिव्यध्वनि में आया था कि—अरे आत्माओं! तुम्हारा स्वभाव हमारे जैसा ही है और जो मोह-रागादि भाव हैं, वे आत्मा के 'अरि' अर्थात् शत्रु हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा उस अरि का नाश करके आत्मा अरिहंत होता है। ऐसे अरिहंत परमात्मा इस समय महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं... समवसरण में गणधरादि संतों के समूह विराजमान हैं और दिव्यध्वनि के स्रोत बहते हैं। उसमें से झेलकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इन समयसारादि शास्त्रों की रचना की है। उसमें कहते हैं कि—आत्मा और पुद्गल भिन्न-भिन्न हैं; इन दोनों के भाव भिन्न हैं; किसी के भाव को दूसरा नहीं कर सकता। क्योंकि—

जो द्रव्य जो गुण द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे।
अनसंक्रमा किस भाँति वह परद्रव्य प्रणमावे अरे॥१०३॥

देखो, यह वस्तुस्वभाव की महान गाथा है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव दो हजार वर्ष पहले इस भरतक्षेत्र में साक्षात् विराजमान थे। एकबार उन्हें साक्षात् तीर्थंकर के विरह का वेदन हुआ कि—अरे, इसकाल यहाँ साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा का विरह है! और विदेहक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकर विराजमान हैं। उनका चिंतन करके नमस्कार किया। कुन्दकुन्दस्वामी को महान आकाशगामिनी लब्धि थी... वे यहाँ से देह सहित आकाश में विहार करके विदेहक्षेत्र में सीमंधर परमात्मा के समवसरण में पधारे थे, वहाँ चक्रवर्ती आदि उनके छोटे से शरीर को देखकर आश्चर्यचकित हुए और भगवान के श्रीमुख से निकला कि यह भरतक्षेत्र के धर्म वृद्धिकर महान आचार्य हैं। वहाँ रहकर उन्होंने आठ दिन तक भगवान की वाणी सुनी, जिससे महान हर्ष हुआ और फिर भरतक्षेत्र लौटकर समयसार आदि महान शास्त्रों की रचना की। मद्रास से ८० मील दूर पोन्नूर (सुवर्ण हिल) पर उनकी तपोभूमि है। वहाँ चंपावृक्ष के नीचे उनकी चरणपादुका हैं। ऐसा कहा जाता है कि वहीं से वे विदेहक्षेत्र गये थे और वहीं उन्होंने शास्त्रों की रचना की थी। वह स्थान अत्यंत शांत एवं रमणीक है; वहाँ आचार्यदेव ने ज्ञान-ध्यान किया है। ऐसे महान समर्थ आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी इस समयसार में वस्तुस्थिति प्रसिद्ध करते हुए कहते हैं कि—

इस जगत में चेतन या अचेतन जो भी वस्तुएँ हैं, वे सब अपने चेतन या अचेतन भाव में ही अनादि से वर्त रही हैं; कोई द्रव्य पलटकर अन्य द्रव्यरूप नहीं हो जाता। चेतन द्रव्य अनादि से अपने चेतनगुण में और चेतन पर्यायों में ही वर्त रहा है। अपने गुण-पर्यायों को छोड़कर वह बाह्य में कुछ भी करने नहीं जाता, और उसके गुण-पर्यायों में कोई अन्य पदार्थ नहीं वर्तता। आत्मा के गुण-पर्यायों को कोई अन्य नहीं करता और किसी अन्य के गुण-पर्यायों को आत्मा नहीं करता। देखो, यह वस्तुस्थिति!

आत्मा जगत में किसी भी स्थान पर हो, परंतु वह अपनु गुण-पर्यायों में ही वर्त रहा है; गुण-पर्यायों से बाहर पर में वह कुछ नहीं करता। उसीप्रकार जगत का प्रत्येक रजकण आदि अचेतन पदार्थ भी अपने गुण-पर्यायों में ही वर्तते हैं, वे किसी अन्य में नहीं वर्तते। अपने-अपने गुण-पर्यायों में स्वतः परिणमित होनेवाले पदार्थों को पर की अपेक्षा नहीं है।

देखो तो सही, कैसी स्वतंत्र वस्तुस्थिति है! भाई! तू अपने स्वभाव में और पर, पर के

स्वभाव में—ऐसी वस्तुस्थिति की मर्यादा किसी से तोड़ी नहीं जा सकती। अज्ञानी माने भले कि मैं पर की अवस्था कर दूं परंतु वह अपने ही परिणाम में मिथ्याकर्तृत्वबुद्धि के अतिरिक्त पर में तो कुछ कर नहीं सकता। अरे, अपना कार्य क्षेत्र कितना है ? कहाँ अधर्म हुआ है और कहाँ धर्म होता है ? उसका पता न हो, वह कहाँ रहकर धर्म करेगा... धर्म कहाँ होता है ? क्या बाहर में धर्म होता है ? क्या शरीर में धर्म या पैसे में धर्म होता है ?—नहीं; यह सब तो आत्मा से बाह्य अचेतन पदार्थ हैं। आत्मा का धर्म आत्मा में होता है, बाह्य में नहीं होता। यह सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी के लेख संतों ने लिखे हैं, यह बदल नहीं सकते।

ऐसी वस्तुस्थिति को समझे तो अपने ज्ञानानंदस्वभाव की ओर उन्मुख हो, पर की कर्तृत्वबुद्धि से हटकर परिणति अंतर में ढाले... और मोह को नष्ट करके आत्मा स्वयं अरिहंत हो। ऐसे आत्मा का सम्यक् अनुभव ज्ञानी को हुआ है कि—हम तो चैतन्यमूर्ति आत्मा हैं और अपने चैतन्यभाव में ही वर्त रहे हैं। बाहर के काम में हम नहीं वर्तते।

यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु में वर्ते तो उसका वस्तुत्व ही नष्ट हो जाये। प्रत्येक वस्तु अनादि-अनंत अखंडरूप से अपने निजभाव में ही वर्तती है। एक परमाणु हो या सिद्धपरमात्मा हों, अज्ञानी हो या केवलज्ञानी हो—सब अपने-अपने निजभाव में अपने स्वभाव से ही अनादि-अनंत वर्त रहे हैं। अरे जीव! जगत से भिन्न अपने स्वभाव को एकबार लक्ष में तो ले... फिर तेरी परिणति अंतरोन्मुख होने पर तुझे अपने परम अतीन्द्रिय आनंद का वेदन होगा। अज्ञानदशा के समय आत्मा अपने विकारी-राग-द्वेषादि परिणाम में वर्तता है और वह परिणाम ही उसका कार्य है; परंतु राग द्वारा आत्मा पर का कार्य करे या द्वेष द्वारा पर का कार्य बिगाड़े - ऐसा नहीं है। तथा ज्ञानी तो ज्ञानभाव से अपने निर्मल परिणाम में ही वर्तता है। निर्मल परिणाम में वर्तता हुआ वह पर की कर्तृत्वबुद्धि से रहित है। देखो, यह सम्यग्दर्शन की रीति!

सम्यग्दर्शन!! अहो, अंतर के वस्तुस्वभाव को जहाँ सम्यग्दर्शन द्वारा प्रतीति में लिया, वहाँ अपूर्व धर्म प्रारम्भ हुआ। आज आठ कुमारी बहिनें ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार कर रही हैं और ऐसे प्रसंग पर यह उत्तम गाथा आयी है। धर्म की बात अपूर्व है।

अज्ञानी निजस्वभाव को भूलकर विकार का कर्ता होता है और मूढ़ता से अपने को पर का कर्ता मानता है, तथा बाह्य फल की अभिलाषा करके कर्मों से बँधता है। ज्ञानी-धर्मात्मा को बाह्य क्रियाओं में से कर्तृत्वबुद्धि छूट गई है। अल्प रागादि होते हैं, उनमें भी कर्तृत्वबुद्धि नहीं है और न

उनके फल की इच्छा करते हैं; वे तो ज्ञानरूप निजभाव में ही कर्तृत्वरूप से वर्तते हैं।—ऐसे ज्ञानी को कर्म का नया लेप नहीं लगता और प्रतिक्षण निर्जरा ही बढ़ती जाती है; इसप्रकार ज्ञानी की क्रिया कर्म बंधरूप फल से रहित है।—इसप्रकार अपने स्वभाव को समझकर स्वद्रव्य पर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शनरूप अपूर्व धर्म होता है।

स्वपर्याय में वर्तती हुई वस्तु में अन्य किसी का हस्तक्षेप नहीं है। आत्मा अपने सम्यग्दर्शनादि परिणमरूप स्वपर्याय में वर्तन करे, वहाँ उसमें कर्म आदि किसी दूसरे का हस्तक्षेप या सहयोग नहीं है; तथा आत्मा किसी अन्य की पर्याय में हस्तक्षेप या सहयोग करने नहीं जाता। उसीप्रकार अज्ञानी भी अपने रागादिरूप स्वपरिणाम में वर्तता है; वे रागादिभाव कोई दूसरा नहीं कराता या आत्मा उस राग द्वारा दूसरे के कार्य नहीं करता। सर्व वस्तुएँ स्वतंत्ररूप से अपने-अपने स्वपरिणाम में ही वर्त रही हैं। अहो, ऐसे स्वतंत्र वस्तुस्वभाव की घोषणा सर्वज्ञदेव ने की है और संतों ने भी यही बात ढिंढ़ोरा पीटकर घोषित की है।—

- अभी तक किसी जीव ने पर का कुछ नहीं किया।
- अभी तक दूसरे ने इस जीव का कुछ भी सुधारा या बिगाड़ा नहीं है।
- अज्ञानदशा में जीव अपने रागादिभाव को करता है और स्वयं ही स्वतंत्ररूप से अपना अहित करता है।
- ज्ञानदशा में जीव अपने ज्ञानभाव को ही करता है, स्वयं स्वतंत्ररूप से अपना हित करता है।

—ऐसा स्वतंत्र वस्तुस्वभाव संतों ने प्रसिद्ध किया है। उसे समझे तो पर की कर्तृत्वबुद्धि छोड़कर स्वोन्मुख होकर, अज्ञानभाव छोड़कर ज्ञानभाव से स्वयं अपना हित करे—इसका नाम धर्म है।

पंडित टोडरमलजी स्मारक भवन का शिलान्यास

जयपुर में श्री पूर्णचंद्रजी गोदिका व उनके परिवार द्वारा लगभग दो लाख रुपये की लागत से गांधीनगर में निर्माण होनेवाले पंडित टोडरमल स्मारक भवन का शिलान्यास तारीख २०-२-६५ को सोनगढ़ के प्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता श्री पंडित खीमचंद जेठालाल शेठ के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। यह स्मारक भवन पूज्य कानजीस्वामी के सद्उपदेश तथा पंडित चैनसुखदासजी

श्री ब्रह्मचारी पंडित खीमचंद जेठालाल शेठ आधारशिला रखने को प्रस्तुत

न्यायातीर्थ की प्रेरणा व परामर्श से निर्माण कराया जा रहा है। तारीख १४ से २१ फरवरी तक व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया।

अपने भाषण में पंडित खीमचंदजी ने आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के जीवन तथा उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुये कहा कि कोई भी स्मारक तभी यथार्थ हो सकता है, जबकि उस महापुरुष के मार्ग पर चलकर उसके गुणों को ग्रहण किया जावे। पंडित टोडरमलजी साहित्य व आध्यात्मिक जगत की महान विभूति थे। उन्होंने बहुत अल्प आयु में ही काफी साहित्यसेवा की और उनके मौलिक अनुपम ग्रंथ श्री मोक्षमार्गप्रकाशक द्वारा सदा के लिये अमर हो गये।

पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, श्री फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री, श्री नेमीचंदजी पाटनी आदि ने पंडित टोडरमलजी के जीवन पर प्रकाश डाला और बताया कि इस स्मारक भवन में प्राचीन जैन साहित्य के शोध कार्य प्रारम्भ करने की योजना है। इसमें ग्रंथ भंडार,पुस्तकालय व छात्रावास का भी प्रबंध होगा।

इस अवसर पर जैन साहित्य सृजन की दिशा में पंडित टोडरमल ग्रंथमाला का प्रकाशन आरम्भ किये जाने की घोषणा की गई, जिसके लिये धनराशि निम्नप्रकार से आई है:—

श्री पंडित खीमचंदजी ने	११००१)
श्री पूर्णचंदजी गोदिका ने	११००१)
श्री नवनीतभाई बंबई ने	२५०१)
श्री सेठ महेन्द्रकुमारजी सेठी ने	२५०१)
श्री सेठ केसरलालजी बख्शी ने	१००१) दिये।
कुल लगभग	३५०००) रुपये देने की घोषणा की गई।

श्री पंडित खीमचंदजी को श्री जैन मुमुक्षु मंडल की ओर से लगभग २०००० साधर्मी बंधुओं के अपार जनसमुदाय के समक्ष एक अभिनंदन पत्र श्री सेठ केसरलालजी बख्शी ने पढ़कर सुनाया और श्री गोदिकाजी ने भेंट किया। श्री ताराचंद्र बख्शी ने आभार प्रदर्शित किया। शिलान्यास समारोह की अध्यक्षता पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने की।

तारीख १९ वे २० को प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री ताराचंदजी प्रेमी के रोचक भजन गायन हुए, राज संगीत विद्यालय द्वारा यमपाल चांडाल का रोचक शिक्षाप्रद वर्णन बालिकाओं द्वारा प्रस्तुत किया

गया, जिसको उपस्थित जनसमुदाय ने बहुत पसंद किया। तारीख २० व २१ को बंबई पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव रीत का प्रदर्शन किया गया, जिसमें श्री कानजीस्वामी का बोलता हुआ प्रवचन भी था। इस रोचक शिक्षाप्रद कार्यक्रम से सारा पंडाल पूरी तरह भरा हुआ था।—पंडित खीमचंदजी के भाषणों को आकाशवाणी जयपुर द्वारा रिकार्ड में भरकर उसे तथा समारोह के कार्यक्रम को समय-समय पर आकाशवाणी से प्रसारित किया गया।

बंबई के प्रसिद्ध आर्टिस्ट श्री पूनम शेठ द्वारा समारोह के कार्यक्रम को रील में भरा गया जिसे यथासमय प्रदर्शित किया जावेगा। प्रातः, दोपहर व सायंकाल प्रतिदिन एक-एक घंटा पंडित खीमचंदजी व पंडित फूलचंदजी सिद्धांतिशास्त्री द्वारा प्रवचन व तत्त्वचर्चा व शंका समाधान का कार्यक्रम रखा गया।

तारीख २३ को पंडित खीमचंदजी बयाना के बड़े मंदिरजी में सं० १५०७ की भगवान श्रीमंधरजी स्वामी की तथा सं० १३ की अति प्राचीन भव्य मूर्तियों के दर्शनार्थ पधारे, वहाँ से श्री महावीरजी गये, वहाँ तारीख २४-२-६५ को उनका १ घंटे तक विद्वता पूर्ण ओजस्वी भाषण हुआ। अंत में मुनि महाराज श्री विद्यानंदजी का भी आत्मस्वरूप विषय पर सारगर्भित भाषण हुआ। सभी ने उसकी सराहना की। तारीख २६ को पंडित खीमचंदजी को वायुयान स्टेशन पर सोनगढ़ पधारने के अवसर पर हार्दिक विदाई दी गई।

शिलान्यास समारोह में बंबई से श्री सेठ नवनीतभाई अध्यक्ष सोनगढ़ ट्रस्ट, श्री मणिलाल जेठालाल शेठ अध्यक्ष श्री जैन मुमुक्षु मंडल बंबई, पंडित फूलचंदजी सिद्धांतिशास्त्री वाराणसी, पंडित हिम्मतलाल छोटेलाल, श्री सेठ मोहनलालजी पाटनी अध्यक्ष श्री जैन मुमुक्षु मंडल, कलकत्ता आदि प्रतिष्ठित महानुभाव व विद्वान पधारे थे।

श्री नेमीचंदजी पाटनी अध्यक्ष व श्री ताराचंद्र बख्शी स० मंत्री श्री दिगंबर जैन मुमुक्षु मंडल ने बाहर से पधारे हुए महानुभावों व समारोह आयोजन में सहयोग देनेवाले सभी सज्जनों का आभार प्रदर्शित किया।

समारोह का सारा कार्यक्रम बहुत ही शिक्षाप्रद व आध्यात्मिक होने से लोगों में स्वाध्याय व आत्मकल्याण की रुचि जागृत हुई।

डॉ० ताराचंद्र जैन बख्शी
स० मंत्री श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल जयपुर

आत्म-आराधना का प्रसाद

[हे जीव! तू आत्म-आराधना में तत्पर हो]

नियमसार गाथा १५८ में आचार्यदेव कहते हैं कि—स्वयंबुद्ध ऐसे तीर्थंकर अथवा तो बोधितबुद्धि ऐसे अन्य धर्मात्मा पुरुष, अप्रमत्त मुनिदशा से लेकर केवलज्ञान तक के गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ़ होते हुए केवलज्ञान को प्राप्त हुए; किसप्रकार प्राप्त हुए?—कि आत्म आराधना के प्रसाद से वे केवलज्ञान को प्राप्त हुए। स्वात्माश्रित ध्यान द्वारा स्वकार्य को साधने में परायण होकर उन्होंने आत्मा की आराधना की और उस आत्माराधना के प्रसाद से ही वे केवलज्ञान धारी हुए। किसी राग के प्रसाद से केवलज्ञान हुआ हो-ऐसा नहीं है। सर्व पुराणपुरुष अर्थात् पूर्वकाल में जो धर्मात्मा पुरुष मोक्षगामी हुए हैं, उन सबने, आत्मा की निश्चय आराधना करके उसके प्रसाद से ही मोक्षगामी हुए हैं। इसप्रकार अनंत तीर्थंकरादि का उदाहरण देकर आचार्यदेव कहते हैं कि—मोक्ष के लिये एक ही मार्ग है कि—स्वात्मा के आश्रय से आत्मा की निश्चय आराधना करें। देखो, यह मुमुक्षु का मोक्ष के हेतु आवश्यक कार्य! व्यवहार के विकल्प, वह मोक्ष के आवश्यक कार्य नहीं हैं; उसके प्रसाद से मुनिदशा या केवलज्ञान नहीं होता।

यहाँ उत्कृष्ट बात लेना है, इसलिये अप्रमत्त मुनिदशा से लेकर केवलज्ञान तक की बात ली है; उसके नीचे की चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान की सम्यग्दर्शनादि दशा भी आत्म आराधना के प्रसाद से प्राप्त होती है, कहीं राग के प्रसाद से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते। देव-गुरु की भक्ति-बहुमान का भाव वहाँ होता अवश्य है, तथा 'देव-गुरु के प्रसाद से ही हमें सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति हुई'—ऐसा भी धर्मात्मा विनय से कहते हैं; परंतु देव-गुरु ने क्या कहा था? देव-गुरु ने तो ऐसा कहा था कि तू अंतर्मुख होकर अपने आत्मा की आराधना कर; अपने स्वात्मा के आश्रय से ही तेरे सम्यग्दर्शनादि होते हैं। श्री देव-गुरु का ऐसा उपदेश पात्रतापूर्वक झेलकर उस उपदेश के अनुसार स्वात्मा की आराधना की, तब उस आराधना के प्रसाद से सम्यग्दर्शनादि हुए और तब उपचार से ऐसा कहा कि श्री देव-गुरु के प्रसाद से ही सम्यग्दर्शन हुआ। श्रीगुरु के कहे अनुसार स्वयं आराधना की, तब श्रीगुरु का प्रसाद मिला, ऐसा कहा गया। परंतु जो जीव स्वयं अंतर्मुख होकर आत्माराधन न करे और राग से लाभ मानकर उसी के अवलंबन में अटका रहे तो उसे राग के प्रसाद

से संसार भ्रमण होता है। उसे श्रीगुरु का प्रसाद मिला—ऐसा उपचार से भी नहीं कहा जाता।

यहाँ तो कौन सा आवश्यक कार्य करने से मोक्ष होता है, उसकी बात है। निश्चय स्वभाव का आश्रय करके आत्मा की आराधना करना ही परम आवश्यक है; उस आत्म आराधना के प्रसाद से ही सम्यग्दर्शन होता है, उस आत्म आराधना के प्रसाद से ही पंचम गुणस्थान प्रगट होता है, उस आत्म आराधना के प्रसाद से मुनिदशा होती है, उस आत्म आराधना के प्रसाद से ही श्रेणी लगाकर केवलज्ञान होता है; इसलिये तू भी ऐसी आत्म आराधना में तत्पर हो, ऐसा उपदेश है। अनंत तीर्थंकर और संत ऐसी आत्म आराधना कर-करके उसके प्रसाद से ही सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं... उन्हें नमस्कार हो!

निवेदन

'आत्मधर्म' का नया वर्ष वैशाख मास से शुरु होता है, उसे पाक्षिक बनाने के लिये पत्र आते हैं, किंतु चंदा ६) करना पड़े, अत: ऐसा न करके इसकी बड़ी साइज गुजराती अंक जैसी करके कवर पेज, चित्र तथा विशेष सुंदर ढंग से ज्यादा लेख सामग्री मिले, ऐसा विचार किया है। करीब चार हजार का घाटा आता है, फिर भी वार्षिक चंदा तीन रुपया ही रखा है। अत: ग्राहकों से प्रार्थना है कि नये ग्राहकों की संख्या बढ़ाने की चेष्टा जरूर की जाये और आगामी साल के लिये वार्षिक चंदा शीघ्र मनिओर्डर द्वारा भेजा जाये। वी.पी. करने से ८५ पैसा संस्था को खर्च और अन्य प्रवृत्ति बढ़ जाती है और ग्राहकों को प्रथम दो अंक बहुत देर से पहुँचते हैं। इससे बचने के लिये मनिओर्डर से ही चंदा भेजें।

पता—आत्मधर्म विभाग
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

श्री प्रवचनसार शास्त्र

(दूसरी आवृत्ति)

यह शास्त्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पवित्र अध्यात्मसाररूप महान ज्ञाननिधि है। जिसमें सातिशय निर्मल ज्ञान के धारक महामहर्षि श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञान-दर्शन (ज्ञेय) और चारित्र अधिकार में स्वानुभव गर्भित युक्ति के बल द्वारा सुनिश्चित द्रव्य-गुण-पर्यायों का विज्ञान, सर्वज्ञस्वभाव की यथार्थता, स्व-पर ज्ञेयों की स्वतंत्रता, विभाव-(अशुद्धभाव) की विपरीतता बताकर अंत में ४७ नयों का वर्णन भी संस्कृत टीका द्वारा ऐसे सुंदर ढंग से किया है कि सर्वज्ञ स्वभाव की महिमा सहित विनय से स्वाध्यायकर्ता अपने को धन्य माने बिना नहीं रह सकते।

धर्म का मूल सर्वज्ञ है, उन्हीं के द्वारा हमारे हितरूप सुख और सुख का सुनिश्चित उपाय जिसप्रकार दर्शाया गया है, उसे उसीप्रकार जो कोई समझेंगे और साथ ही साथ मोक्षमार्ग के प्रणेता तीर्थंकरदेव तथा आचार्यदेव की महानता समझेंगे, वही वीतराग विज्ञानमय न्यायमार्ग के अधिकारी हो सकते हैं।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समस्त जिनागम के साररूप रहस्य को खोलकर धर्म जिज्ञासुओं के प्रति परमोपकार किया है। उसी टीका का प्रामाणिक अनुवाद, बड़े टाईप में उत्तम छपाई, बढ़िया कागज, रेगजिन कपड़ेवाली बढ़िया जिल्द, प्रत्येक गाथा लाल स्याही में छपी है। सभी जिज्ञासु यथार्थ लाभ लें, ऐसी भावनावश मूल्य लागत से भी बहुत कम, मात्र ४) रुपया रखा गया है। पृष्ठ संख्या ४७०, पोस्टेज २.१० पैसे, (किसी को कमीशन नहीं है)।

(यह शास्त्र बंबई, दिल्ली, सहारनपुर, बड़ौत, उदयपुर, जयपुर, सागर, भोपाल, उज्जैन, इंदौर, विदिशा, गुना, अशोकनगर, ललितपुर, जबलपुर, खंडवा, सनावद, दाहोद, अहमदाबाद, आदि में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा भी प्राप्त हो सकेगा।)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।